भारतीय बौद्धिकता और स्वदेश चिन्ता

पिछली दो शताब्दियाँ

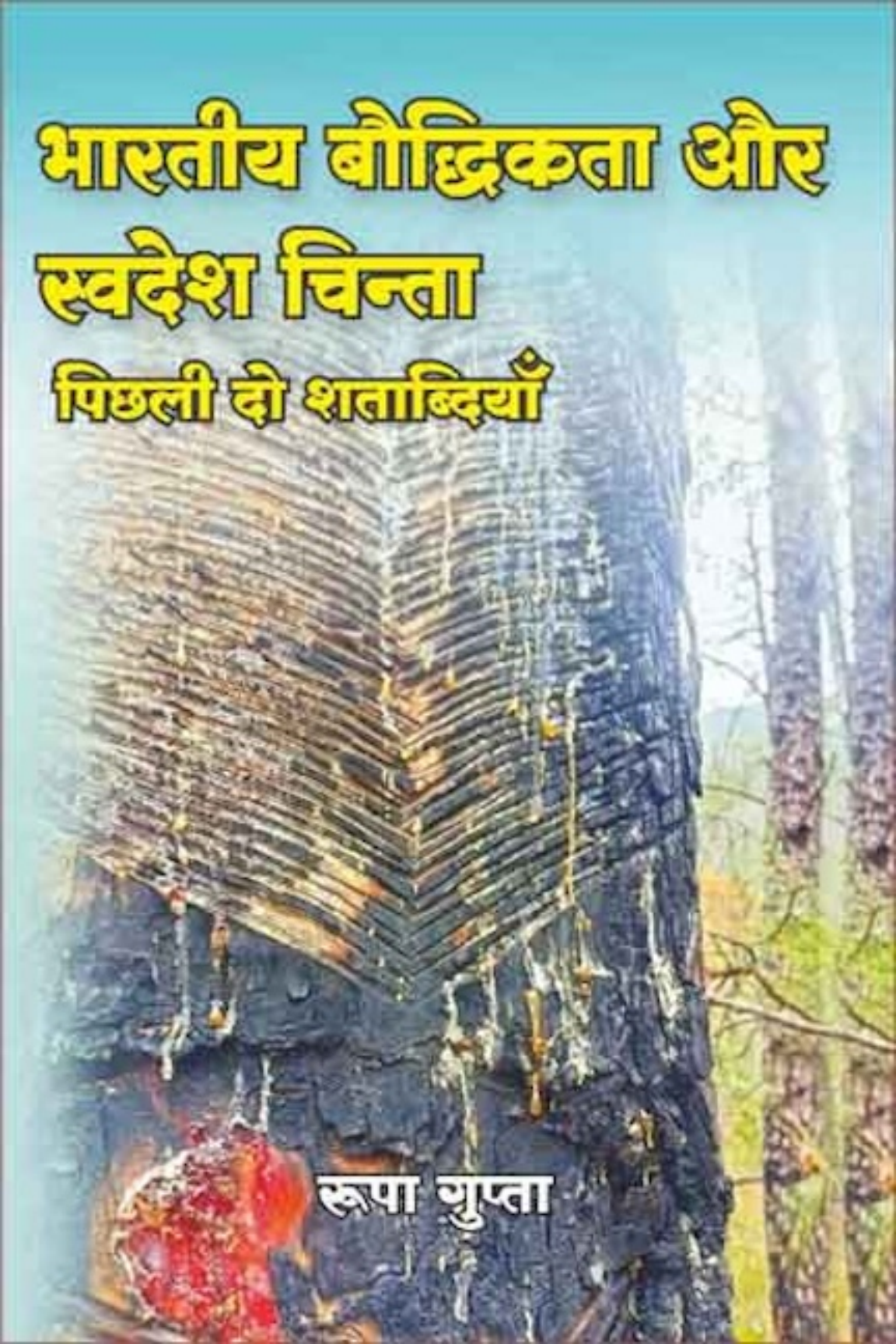

रूपा गुप्ता

भारतीय बौद्धिकता और स्वदेश चिन्ता
पिछली दो शताब्दियाँ

भारतीय बौद्धिकता और स्वदेश चिन्ता
पिछली दो शताब्दियाँ

रूपा गुप्ता

अनुज्ञा

वैधानिक चेतावनी

पुस्तक के किसी भी अंश के प्रकाशन, फोटोकॉपी, इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों में उपयोग के लिए लेखक व प्रकाशक की लिखित अनुमति आवश्यक है। पुस्तक में प्रकाशित आलेख/आलेखों के सर्वाधिकार मूल रचनाकार/रचनाकारों के पास सुरक्षित हैं। पुस्तक में व्यक्त विचार पूर्णतया लेखक/लेखकों अथवा संपादक/संपादकों के हैं। यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशक इन विचारों से पूर्ण या आंशिक रूप से सहमति रखे। किसी भी विवाद के लिए न्यायालय, दिल्ली ही मान्य होगा।

© लेखक

प्रथम संस्करण : 2023

ISBN 978-81-19020-37-9

प्रकाशक

अनुज्ञा बुक्स

1/10206, लेन नं. 1E, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110 032

e-mail : anuugyabooks@gmail.com • salesanuugyabooks@gmail.com

फोन : 011-22825424, 7291920186, 09350809192

www : anuugyabooks.com

आवरण चित्र

रूपा गुप्ता

मुद्रक

अर्पित प्रिंटोग्राफर्स, दिल्ली-32

BHARTIYA BAUDHIKTA AUR SWADESH CHINTA

Pichali Do Shatabdiyan

Literary Criticism ***by Rupa Gupta***

अति प्राचीन काल से मित्र दम्पत्ति
सुमन और राज धानुका
के लिए
जिनकी हिन्दी में रुचि बस मेरे कारण है

भूमिका

मानव समाज की स्मृति चिरस्थायी नहीं है। यह समाज सुदूर और दीर्घ स्मृतियों में नहीं जीता। इसके लिए निकटस्थ कालखंड को अपने वर्तमान से जोड़कर जीना अधिक सुविधाजनक होता है, इसलिए उसका भूतकाल इतिहास के रूप में कई कालों में विभक्त होता है। अपनी सभ्यता-संस्कृति के विकास में (कभी-कभी पतन में भी) वह अपने आसपास की सदियों से अधिक संवाद करता है। प्रथम संवत् या सदी से पाँचवीं-छठी शताब्दी का जितना सहज संवाद रहा होगा वह इक्कीसवीं सदी में अकल्पनीय है। इक्कीसवीं सदी भी अपनी शक्तियों और विवशताओं की संभावनाओं और आशंकाओं पर चर्चा करने के लिए उन्नीसवीं-बीसवीं सदी को ही चुनेगी। बहुत हुआ तो अठारहवीं सदी तक जायेगी। यूँ भी प्रत्येक क्षण का इतिहास नहीं लिखा जाता। इसलिए इतिहासकार किन्हीं विशेष घटनाओं को तिथिवार लिखता है। सुदूर अतीत की भावनात्मक प्रामाणिकता से वर्तमान की सम्बद्धता प्रश्नचिह्न के घेरे में बनी रहती है, क्योंकि दोनों के बीच पूर्णत: व्याख्यायित कालबोध की सम्बद्धता का अभाव है। इसे ऐतिहासिक उपन्यास, कथा आदि साहित्य लेखन और फिल्म निर्माण की कठिनाइयों से समझा जा सकता है। इनमें रचनाकार रिक्त स्थानों की पूर्ति प्राय: अपने कालबोध की कल्पना के अनुसार करते हैं। उत्तर आधुनिक विमर्श ने इस प्रवृत्ति को और भी बढ़ावा दिया। उसने अपने विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत महाआख्यान के अन्त की घोषणा कर अपने 'गणतांत्रिक' उच्छ्वास से मानव इतिहास को आच्छादित कर दिया। अपने समय की कमियों का कारण उसने सदा ही अतीत में खोजना चाहा जो अंशत: उचित भी था, क्योंकि कोई भी देश अपनी परम्पराओं की भी निर्मिति होता है, किन्तु कई बार काल/समय का गुणात्मक परिवर्तन एकरेखीय नहीं होता। इस परिप्रेक्ष्य में भारतीय संदर्भ में 'आधुनिकता' की बात की जाए इसके पास कुल जमा सवा दो सौ वर्ष हैं। यद्यपि प्रगति की अवस्था देखते हुए पूरी भारतीय जनता के लिए हम एक जैसे 'टाइम' और 'स्पेस' की उपलब्धि कतई नहीं पाते। संभव ही नहीं है। इसलिए भिन्न-भिन्न समय बोध में जी रहे भिन्न-भिन्न वर्ग के आधुनिकता और परम्पराबोध में अन्तर है, बल्कि कहें कि अच्छा-खासा अन्तर है। अधिक पिछड़ा कहलाने वाले वाला समाज इतिहास में अपनी लोक-चेतना के साथ अधिक पीछे तक जाता है जबकि आधुनिक शिक्षा और सुविधा-सम्पन्न वर्ग वहीं से अपनी कहानी आरम्भ करता है जहाँ से वह आधुनिक काल का आरम्भ मानता है। लोक भक्ति, मिथकों, किंवदंतियों, चमत्कारों यहाँ तक कि अपने अंधविश्वासों के सहारे 'प्राचीन' से जुड़ जाता है। उसे विज्ञान और तर्क की गवाही की सदैव आवश्यकता नहीं होती जबकि आधुनिक मन इन दोनों के बिना अपने निर्माण को ही

नहीं मान सकता। इसलिए आधुनिक वर्ग अपनी समस्याओं और उनके समाधान हेतु पिछली दो शताब्दियों पर अधिक आश्रित है।

इसलिये इक्कीसवीं सदी के बुद्धिजीवियों ने सबसे अधिक सवाल-जवाब पिछली दो सदियों– उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के विचारकों से ही किये हैं। अपनी समस्याओं की जड़ उसे पिछली सदियों में दिखाई पड़ती है, यह और बात है कि उसके लिए वह मोटे तौर पर परम्परा को दोषी ठहराता है, बिना इस बात पर ध्यान दिये कि पिछली दो सदियों के समाज सुधारकों, साहित्यकारों और विचारकों ने भी स्वाभाविकत: यही किया था।

यह पुस्तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में समय-समय पर छपे मेरे आलेखों का परिनिष्ठित एवं परिवर्द्धित संकलन है। ये आलेख मुख्यत: पूरी उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध से सम्बद्ध हैं। इन आलेखों को इनके प्रकाशन के अनुरूप सूचीबद्ध नहीं किया गया है, बल्कि विवेचित साहित्यकारों के कालक्रमानुसार क्रमबद्ध करने का प्रयास है। पुस्तक में प्रथम आलेख नज़ीर अकबराबादी पर है जबकि मैंने उन पर विधिवत् कार्य 2014 में आरम्भ किया था। इसी तरह विवेकानन्द पर बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय से पहले और रानी लक्ष्मीबाई पर विवेकानन्द के बाद विस्तार से अध्ययन किया था। चूँकि आलेखों का समय पिछले एक-डेढ़ दशक का है, अत: इनमें उचित संशोधन और परिवर्द्धन किये गये हैं।

उन्नीसवीं सदी अठारहवीं सदी का प्रस्थान बिन्दु है। अपने ढर्रे पर जी रहा भारतीय समाज पश्चिम के आघातकारी सम्पर्क में आने के बाद जिन आलोड़नों और परिणामस्वरूप जिन आत्मचिन्तनों और आत्मसुधारों की ऊबड़-खाबड़ राह पर आड़ा-तिरछा चलता हुआ बीसवीं सदी पार कर इक्कीसवीं सदी में आ पहुँचा है उसकी पड़ताल रोचक है। उन्नीसवीं सदी में जगी जागरण की जोत बीसवीं सदी में जागृति का ज्वार बन गयी। ऐसा लगता है मानो उन्नीसवीं सदी बड़े उदास मनोभाव से आगे बढ़ रही थी, किन्तु धीमी आँच पर चढ़ा हुआ पानी भी खौलने लगता है। किसी क्रान्ति के अभाव में समाज के गुणात्मक परिवर्तन विशेष तौर पर भाषा, शिक्षा, धर्म, साम्प्रदायिकता, अंधविश्वास, रूढ़ियाँ, स्त्री, जाति, आदिवासी, गरीबी और भ्रष्टाचार आदि बिन्दुओं पर पारम्परिक और आधुनिक भारतीयों का अपना एक ठेठ अन्दाज रहा। आधुनिकता, उदारता और स्वाधीनता के गुणों के पालन से अधिक उसका पाखंड करते-करते भी भारतीय गणतंत्र अपने 'गणों' में उत्साह बनाये रखने में सफल रहा है। रही बात अधिक मानवीय होने की तो इक्कीसवीं सदी को कोई अधिकार नहीं है कि वह इस बिन्दु पर अपने पर अहंकार करे, क्योंकि आज भी परिवर्तन की जितनी चीख-पुकार है समाज में उसकी समान परिणति प्रतिफलित होती नहीं दीखती।

पुस्तक में सम्मिलित आलेखों पर यहाँ कुछ अलग से कहे जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि इनके केन्द्रीय व्यक्तित्व– नज़ीर अकबराबादी, रानी लक्ष्मीबाई, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, राधाचरण गोस्वामी, राधामोहन गोकुल, विवेकानन्द, सुभद्रा कुमारी चौहान और शिवपूजन सहाय सभी के लिए परिचित नाम हैं। हालाँकि हिन्दी के अकादमिक जगत में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय और राधामोहन गोकुल पर कम चर्चा हुई है।

सुभद्राकुमारी चौहान की भी कुछ कविताएँ ही इतनी प्रसिद्ध हुईं कि उनका कहानीकार रूप छिप गया जबकि राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की सक्रिय सेनानी के रूप में उन्होंने सामाजिक भेदभाव विशेष तौर पर स्त्री-पुरुष भेदभाव पर साहसिक प्रश्न उठाये। उनकी कहानियाँ ठीक महादेवी वर्मा के गद्य की तरह आधुनिक भारतीय स्त्री विमर्श का आरम्भिक किन्तु सशक्त स्वर हैं।

यह पुस्तक मेरे मित्र दम्पति सुमन लोहिया और राज धानुका को समर्पित है। वैसे सुमन भारतीय नारी की तरह अब सुमन धानुका लिखती है पर मेरे लिए वह सुमन लोहिया ही रही। स्कूल के दिनों के इन भायली-दोस्त से यह मित्रता दो शताब्दियों में फैले चार दशकों से अधिक की है। ऐसे दोस्त कम मिलते हैं जिन्हें आप बिना किसी लाग-लपेट के कुछ भी कह सकें। उनसे कुछ भी सुन सकें और लम्बे समय तक कहते-सुनते रह सकें। एक बात हजार बार दोहराई जाए और फिर भी दोहराने के लायक बची रहे। बातें कभी खत्म न हो। चलती रहें, चलती रहें...।

इस पुस्तक को बहुत पहले आ जाना चाहिए था। सामान्यत: प्रकाशन में देर के लिए प्रकाशक दोषी होते हैं, किन्तु इस बार यह भार मुझ पर है। सुधीर जी तो धैर्यपूर्वक याद दिलाते रहे। उनको बहुत-बहुत धन्यवाद।

रूपा गुप्ता
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
हिन्दी विभाग, वर्द्धमान विश्वविद्यालय,
गुलाबबाग, वर्द्धमान-713104 पश्चिम बंगाल

विषय सूची

भूमिका 7

1. नज़ीर अकबराबादी : साझी पहचान का 'निखालिस' कवि 13
2. उन्नीसवीं सदी का आर्थिक राष्ट्रवाद 39
3. सन् 1857 का राजनैतिक परिदृश्य और लक्ष्मीबाई 65
4. सन् सत्तावन का प्रथम स्वाधीनता संग्राम और हिन्दी साहित्य : पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता 87
5. हिन्दी नवजागरण और विधवा-विवाह 96
6. विवेकानन्द का हिन्दी प्रदेश से सम्पर्क : कुछ सन्दर्भ 115
7. परिवर्तनकामी, तार्किक और प्रखर विचारक राधामोहन गोकुल 124
8. राष्ट्रवाद, औपनिवेशिक भारत और कलकत्ता की हिन्दी पत्रकारिता 154
9. भारतेन्दु एवं बंकिमचन्द्र के साहित्य में साम्प्रदायिकता के सवाल 168
10. सत्याग्रही कवयित्री एवं कथाकार सुभद्रा कुमारी चौहान 190
11. बीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध का महिला चिन्तन : शिवपूजन सहाय का 'महिला-महत्त्व' 215

नज़ीर अकबराबादी : साझी पहचान का 'निखालिस' कवि

किसी भी भाषा की अपनी चिन्ता और पहचान उसके दार्शनिकों और साहित्यकारों (मुख्यत: कवियों) के माध्यम से प्रस्तुत एवं स्थापित होती है। यह उन भाषाओं के साथ थोड़ा जटिल हो जाता है जिन्हें किसी और भाषा अथवा भाषाओं के साथ अपना युग साझा करना पड़ता है। हिन्दी के हिस्से यह जटिलता आरम्भ से ही सम्पृक्त रही है। अपनी सभी सहभागिनी बोलियों के साथ इसी देश में ब्रजभाषा के लगभग अस्सी प्रतिशत और अरबी-फ़ारसी के बचे हुए लगभग प्रतिशत हिन्दी के व्याकरण तथा निर्मित उर्दू से भी हिन्दी शब्द भंडार को समृद्ध किया। हिन्दी के इस समृद्ध स्वरूप के सशक्त कवियों के रूप में नज़ीर अकबराबादी का नाम निस्संकोच लिया जा सकता है।

नज़ीर अकबराबादी का पेशा शिक्षण और नशा शायरी थी। पेशे से शिक्षक और तबीअत से शायर वली मुहम्मद 'नज़ीर अकबराबादी' अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के गुणीजनों की तरह बहुत-सी भाषाएँ जानते थे। अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, ब्रजभाषा, हिन्दी, उर्दू, पूर्वी, पंजाबी और मारवाड़ी भाषाओं के वे अच्छे जानकार थे। उनकी शायरी इन भाषाओं के आत्मसातीकरण का श्रेष्ठ नमूना है। आगरे की ज़बान और उसकी लयात्मकता तो नज़ीर की शायरी की जान है। आगरे की इस ब्रजभाषा में स्वयं नज़ीर के प्राण बसते हैं। सम्भवत: इस भाषा में सिद्धहस्तता भी उनके सरस और सफल कृष्ण लीला गान का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। कृष्ण लीला के गवैया नज़ीर अकबराबादी ने आगरे की 'बोली-बानी वाली ब्रजभाषा' मिठास को जिस रवानगी से पेश किया है उसे हिन्दी के लोगों की इतनी सराहना मिलना उचित ही है, किन्तु उर्दू शायरी के रीतिबद्ध अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुलता के पैरोकार रचनाकारों और आलोचकों ने नज़ीर के इस दुर्लभ गुण को दाद नहीं दी।

नज़ीर अकबराबादी दरबारी दौर के कवि हैं। यह दरबारी दौर हिन्दी का भी है, उर्दू का भी है। यह दोनों भाषाओं का रीतिकाल है। एक ओर भक्तिकालीन साहित्यिक सहजता, सरलता और लोकोन्मुखता के स्थान पर अलंकारों के भार से दबी कविता कामिनी है जो दरबारों की बन्दिनी है, तो दूसरी तरफ हुस्न-ओ-इश्क की बज़्म में कैद शायरी है जिसे फ़ारसी की दुरूह गलियों से फुर्सत नहीं, ऐसे समय में नज़ीर की शायरी सुखद अपवाद के रूप में सामने आती है। नज़ीर जनता के कवि हैं। उनकी शायरी में जनसंस्कृति बोलती है–सहज, अलमस्त, सजीव और साकार स्वरूप में। बहुत से सामन्तों और राजाओं के निमन्त्रण पर भी नज़ीर उनके दरबार का हिस्सा कभी नहीं बने। स्वाभिमानी, मस्त, आज़ाद और फक्कड़ तबीअत के नज़ीर अकबराबादी किसी की भी खुशामद करने में अत: दरबारी शायर बनने में